

प्रागैतिहासिक काल से ही भारत नाना प्रकार की जातियों और संस्कृतियों का आश्रय स्थल रहा है। इनकी विभिन्न प्रवृत्तियों, जीवन विधाओं के संघर्ष और समन्वय के द्वारा भारतीय इतिहास की प्रगति एवं संस्कृति का विकास हुआ है। इस क्रम में ई०पू० छठी शताब्दी का काल भारतीय इतिहास में बौद्धिक क्रांति अथवा महान परिवर्तन का काल माना जाता है। इस समय मध्य गंगाघाटी क्षेत्र में जहाँ एक तरफ साम्राज्यवाद का उदय हो रहा था, एक विशाल सुसंगठित साम्राज्य की नींव रखी जा रही थी, लगभग उसी समय अनेक नये धार्मिक सम्प्रदायों का भी उदय हुआ। ये धार्मिक सम्प्रदाय धर्मसुधार आन्दोलन के रूप में स्थापित हुए। विश्व के अन्य भागों में होने वाले धार्मिक आन्दोलनों की तरह ही ई०पू० छठी शताब्दी का भारत का धार्मिक आन्दोलन भी सुधारवादी स्वरूप का ही था। जिस प्रकार प्राचीन काल में चीन, ईरान और यूनान के धर्म सुधार आन्दोलन के नेताओं और मध्यकालीन यूरोप के धर्म सुधारकों— जॉन विकिलफ, मार्टिनलूथर, जिंगली तथा काल्विन आदि ने तत्कालीन धर्म में व्याप्त बुराइयों और पुरोहितों के अत्याचारों से जनता को छुटकारा दिलाया, लगभग उसी प्रकार का कार्य छठी शताब्दी ई०पू० में भारतीय धर्म—सुधारकों ने भी किया। इस सुधारवादी धार्मिक प्रक्रिया के परिणामस्वरूप भारत में एक नवीन धार्मिक सम्प्रदाय— बौद्ध धर्म का उदय हुआ, जिसने भारतीय इतिहास और संस्कृति को गहरे रूप से प्रभावित किया। बौद्ध धर्म ने तत्कालीन समाज में व्याप्त कुरीतियों एवं रुद्धियों पर प्रहार किया तथा अहिंसा पर बल दिया। बौद्ध धर्म के संस्थापक महामानव गौतम बुद्ध ने वैदिक धर्म की कुरीतियों पर आधात करने के साथ—साथ समकालीन अन्य अतिवादी धार्मिक सम्प्रदायों के सिद्धान्तों का खण्डन कर बौद्ध धर्म को सबके लिये सहज और ग्राह्य बनाया।

बौद्ध धर्म का अभ्युदय : एक आध्यात्मिक-बौद्धिक क्रांति

ई०प०० छठी शताब्दी का काल सम्पूर्ण विश्व में व्यापक धर्मसुधार का युग था।^२ इस काल में चीन, यूनान और भारत में बौद्धिक और आध्यात्मिक प्रतिभा का आश्चर्यजनक प्रस्फुटन देखकर ऐसा मालूम होता है कि मानों पिछली अनेक सहस्राब्दियों की पर्येषणा के बाद मानव जाति के लिये अभिसम्बोधि का युग उपस्थित हुआ हो। इस व्यापक आध्यात्मिक-बौद्धिक क्रांति के लिये ऐतिहासिक 'कार्य-कारण सम्बन्ध' का समुचित निर्देश करना आसान नहीं है। भौतिकवादी दृष्टिकोण के अनुसार मानव-चेतना के परिवर्तनों का कारण सामाजिक धरातल पर खोजना चाहिए। वहीं आध्यात्मवादी दृष्टि के अनुसार चेतनागत क्रांति ज्ञान के स्वाधीन विकास अथवा अतिमानवीय प्रेरणा से ही उत्पन्न होती है। इन दोनों दृष्टियों में से किसी की भी अवहेलना नहीं की जा सकती है। सच तो यह है कि दोनों एक दूसरे के सापेक्ष हैं, क्योंकि जहाँ एक ओर भौतिक-सामाजिक परिवर्तन के पीछे भी अन्ततोगत्वा नवीन आविष्कार और उनकी जननी प्रतिभा कारण रूप में विद्यमान है, वहीं दूसरी तरफ सामाजिक धरती के अनुकूल न होने पर किसी भी आध्यात्मिक बीज का प्रबल ऐतिहासिक परम्परा के रूप में प्ररोह असंभव है। ई०प०० छठी एवं पाँचवीं शताब्दियों में अनेक महापुरुषों और मनीषियों के चिन्तन और उपदेश के साथ ही महत्वपूर्ण आर्थिक एवं सामाजिक परिवर्तन भी दिखाई देते हैं, जिन्होंने न्यूनाधिक मात्रा में कुछ सामाजिक वर्गों के लिये क्लेश और उसके द्वारा जिज्ञासा के भाव को जन्म दिया होगा। सामाजिक परिवर्तन और जिज्ञासा का अनुभव निःसन्देह धर्म और दर्शन की नवीन विचारधारा की खोज से सम्बन्ध रखता है, किन्तु सामाजिक क्रान्ति नवीन चिन्तन की केवल अपेक्षामात्र को जन्म देती है, उसके विषय और प्रकार का निर्णय नहीं करती। वस्तुतः संस्कृति के आध्यात्मिक पक्ष के विकास में प्रतिभा बीज का कार्य करती है और सामाजिक स्थिति भूमि का। दोनों के सहयोग से ही नवीन आध्यात्मिक परम्पराएँ बनती और बढ़ती हैं। तथागत की देशना में उनकी विशिष्ट आध्यात्मिक अनुमति जितनी और जिस रूप में अभिव्यक्ति हुई, उसमें तत्कालीन समाज और चिन्तन का हाथ अवश्य ही था।

उपनिषदों से तथा प्राचीन बौद्ध और जैन ग्रंथों से यह निर्विवाद रूप से सिद्ध होता है कि छठी शताब्दी ई०पू० का काल एक बौद्धिक और आध्यात्मिक क्रान्ति का युग था। इस समय परम्परागत वैदिक धर्म एवं समाज में व्याप्त कुरीतियों, पाखण्डों, कुप्रथाओं, छुआ—छूत, ऊँच—नीच आदि के विरुद्ध आन्दोलन उठ खड़ा हुआ। ब्राह्मण तथा ब्राह्मणेतर श्रमणों, परिव्राजकों, भिक्षुओं आदि के अनेक सम्प्रदाय अस्तित्व में आये जिन्होंने विभिन्न मतों एवं वादों का प्रचार किया। यह आन्दोलन कोई आकस्मिक घटना नहीं थी वरन् यह चिरकाल से संचित हो रहे असंतोषों का ही परिणाम था, जिसकी चरम परिणति बौद्ध धर्म का अभ्युदय था। जिसने नवीन कृषि प्रणाली के विकास में बाधक वैदिक यज्ञों का विरोध किया, अपने समकालीन अनेक परिव्राजक—सम्प्रदायों के अतिवादी तथा अव्यवस्था जनक मतों का खण्डन किया और साथ ही, नई उत्पादन तकनीक पर विकसित हो रहे समाज को वैचारिक तथा धार्मिक समर्थन भी दिया।

बौद्ध धर्म के अभ्युदय के लिये उत्तरदायी कारक : धार्मिक, सामाजिक, राजनीतिक व आर्थिक—

छठी शताब्दी ई०पू० में बौद्ध धर्म के अभ्युदय की पृष्ठभूमि उत्तरवैदिक काल के अन्त तक तैयार हो चुकी थी। तत्कालीन सामाजिक विद्वेष के वातावरण, आर्थिक क्षेत्र में हुए परिवर्तनों एवं आडम्बर और यज्ञबलि—प्रधान धार्मिक मान्यताओं ने इस नवीन धर्म की भूमिका तैयार कर दी। छठी शताब्दी ई०पू० में बौद्ध धर्म एक सुधार आन्दोलन के रूप में आरम्भ हुआ, जिसका नेतृत्व गौतम बुद्ध ने किया। बौद्ध धर्म के अभ्युदय के लिये उत्तरदायी कारणों का अवलोकन करने पर हमें निम्नलिखित कारक इस हेतु उत्तरदायी प्रतीत होते हैं –

छठी शताब्दी ई०पू० में बौद्ध धर्म के अभ्युदय का एक प्रधान कारण था—तत्कालीन धार्मिकव्यवस्था के विरुद्ध असंतोष की भावना। इस समय तक धार्मिक जीवन आडम्बर पूर्ण एवं यज्ञ और बलि प्रधान बन चुका था। तत्कालीन समाज में लोगों की ऐसी धारणा थी कि यज्ञ के माध्यम से देवतागण प्रसन्न होते हैं तथा व्यक्ति को अभीप्सित फल प्रदान करते हैं। इसका परिणाम यह हुआ कि लोग यज्ञ

की तरफ अत्यधिक प्रेरित हुए तथा यज्ञों का महात्मय काफी बढ़ गया। सूत्र साहित्य में हमें बहुसंख्यक श्रोत यज्ञों का वर्णन प्राप्त होता है, जिसमें दशपर्णमास, चातुर्यमास, वैश्वदेव, शुनासीरीय, अग्न्याध्येय, अग्निश्टोम, राजसूय, वाजपेय एवं अश्वमेध आदि विशेष प्रसिद्ध थे। इन यज्ञों की क्रियायें अत्यधिक जटिल थीं। पुरोहितों की सहायता के बिना इनका सकुशल सम्पादन संभव नहीं था। इन श्रोतयज्ञों ने ब्राह्मण—पुरोहितों को और भी अधिक प्रतिष्ठा प्रदान की। ब्राह्मण ग्रन्थों में तो यहाँ तक वर्णित है कि यदि पुरोहित यज्ञ न कराता हो तो सूर्य उदय नहीं हो सकता है। इस प्रकार स्पष्ट है कि तत्कालीन समाज में ब्राह्मण—पुरोहित वर्ग अत्यधिक प्रतिष्ठित स्थिति में था, जिसके खिलाफ क्षत्रिय वर्ग में प्रतिक्रिया होना स्वाभाविक था। तत्कालीन समाज में यज्ञ की शक्ति पर लोगों का इतना अधिक विश्वास जम गया था कि उसके समक्ष यज्ञ में पूज्य देवता की इच्छा भी गौण हो गयी थी। लोगों की यह धारणा थी कि अमुक यज्ञ करने पर इस हेतु निर्धारित फल देने के लिये देवता भी बाध्य हैं। मनुष्य के सभी कर्मों में याज्ञिक क्रिया सर्वश्रेष्ठ थी। यज्ञ के मूल में यह धारणा भी काम कर रही थी कि बलि प्राप्त कर देवता जितना सन्तुष्ट होते हैं, उसी अनुपात में यज्ञकर्ता को फल प्रदान करते हैं। इसका दुष्परिणाम यह हुआ कि अधिकाधिक संख्या में अग्निकुण्ड में पशुओं की बलि दी जाने लगी। तत्कालीन समय में महायज्ञों में गाय, वृषभ, बछड़े, बछिया, बकरा, भेंड, सूअर आदि पशुओं की तथा कुछ अन्य पक्षियों की बलि दिये जाने के प्रमाण तत्कालीन साहित्य में प्राप्त होते हैं। इससे यह विदित होता है कि जिन पशुओं की बलि देने की प्रथा वैदिक काल में नहीं थी अब उनकी भी बलि दी जाने लगी थी। इस प्रकार बौद्ध धर्म के उदय के पूर्व पशु यज्ञ उन्नति की पराकाष्ठा पर पहुँच गया था। तत्कालीन समय में कृषि कार्य हेतु पशुओं की उपयोगिता बढ़ जाने से सामान्य जन उनके यज्ञों में मारे जाने के विरुद्ध हो गये तथा समाज में असन्तोष की भावना पैदा होने लगी।

उत्तर वैदिककाल के अन्त तक आते—आते यज्ञों में आङ्ग्म्बर के अत्यधिक बढ़ जाने से अब यज्ञ केवल धनाद्यों तक सीमित हो गया था। उसमें सही भावनाओं और विश्वासों का अभाव हो गया था। यज्ञों की व्यापकता एवं जटिलता के कारण

पुरोहितों की संख्या में निरन्तर वृद्धि होती चली गयी। श्रौत सूत्रों तथा गृह्यसूत्रों में अनेक यज्ञों तथा 16–17 प्रमुख पुरोहितों का उल्लेख प्राप्त होता है। सत्रह पुरोहितों द्वारा किये जाने वाले यज्ञ, कितने अपव्ययात्मक होते रहे होंगे, इसका सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है। बिना दान—दक्षिणा के यज्ञ अपूर्ण एवं निष्फल माना जाने लगा था। व्यक्ति के जन्म से लेकर मृत्यु तक प्रत्येक संस्कार के साथ ब्राह्मण धर्म में अब एक अनुष्ठान का होना अनिवार्य सा हो गया था। अब यज्ञ और अनुष्ठान कार्य में अधिकाधिक धन व्यय होने लगा था। अतः लोग आत्मिक शान्ति के लिये अब याज्ञिक कर्मकाण्डों के स्थान पर नये उपायों की ओर अग्रसर होने लगे, जिसमें हठयोग और तपस्या मुख्य थी। अब लोगों में यह विश्वास अत्यधिक तेजी से फैल रहा था कि कठोर तपस्या करने से ऋद्धि—सिद्धि की प्राप्ति हो सकती है। अतः मनुष्य अब आत्मिक शान्ति की प्राप्ति के लिये तरह—तरह की तपस्या करने लगे। तत्कालीन धार्मिक जीवन में तामसी तप का प्रसार अधिक हो गया। किन्तु जनमानस को हठयोग एवं तपस्या से भी आत्मिक शान्ति प्राप्त नहीं हुई। अतः अब लोग आत्मा एवं परमात्मा के गूढ़ विषयों पर विचार की अग्रसर हुए तथा उपनिषदों का अनुशीलन करना प्रारम्भ किया। किसी ने उपनिषदों में अद्वैतवाद का दर्शन किया तो किसी ने विशिष्टाद्वैत का। इस प्रकार तत्कालीन समाज में अनेक मत मतान्तर हो गये। जनार्दन भट्ट के अनुसार गौतम बुद्ध के जन्म के समय समाज में मुख्यतः तीन विचार धारायें अति प्रबलता के साथ प्रचलित थीं। प्रथम, यज्ञ और बलिदान, द्वितीय, हठयोग और तपस्या तथा तृतीय, ज्ञानमार्ग और दार्शनिक विचार। किन्तु इनके नीच कुछ छोटी विचारधारायें यथा—जादू—टोना, भूत—प्रेत, सर्प एवं वृक्ष—पूजा का भी महात्म्य था। इस प्रकार तत्कालीन युग में जहाँ समाज के निम्न वर्ग को मान्यता देकर धर्म को एक व्यापक स्वरूप प्रदान करने की आवश्यकता थी वही ब्राह्मण धर्म जटिल से जटिलतम की तरफ अग्रसर था। ब्राह्मण धर्म में जटिलता को प्रश्रय मिलने के कारण समाज एक संकुचित विचारधारा की तरफ मुड़ने लगा था। कुल मिलाकर तत्कालीन समाज में धार्मिक व्यवस्था के विरुद्ध असंतोष की भावना जागृत हो रही थी।

उपर्युक्त तथ्यों से स्पष्ट होता है कि छठी शताब्दी ई०पू० तक आते—आते भारतीय जनसामान्य का धार्मिक जीवन आडम्बरपूर्ण एवं यज्ञ और बलिप्रधान बन चुका था। इस समय तक धार्मिक क्रिया—कलाप इतने जटिल और आडम्बर पूर्ण हो चुके थे कि किसी भी व्यक्ति के लिये उन्हें पुरोहितों की मदद के बिना पूरा करना संभव नहीं था। अतः धार्मिक अनुष्ठानों को पूरा करने के लिये पुरोहितों की नितान्त आवश्यकता थी। पुरोहितों ने समस्या को जटिल बनाने और अपना महत्व बढ़ाने के लिये मंत्रों के शुद्ध उच्चारण पर भी बल दिया। जनमानस में यह भावना बैठा दी गयी थी कि गलत मंत्रोच्चारण के अनिष्टकारी परिणाम निकलेंगे। फलतः धार्मिक मामलों का नियंत्रण पूर्णतः पुरोहितों के हाथों में चला गया। इससे उनकी शक्ति और सम्पत्ति में वृद्धि हुई। यज्ञों के सफल सम्पादन के परिणामस्वरूप दान—दक्षिणा बढ़ी। इतना ही नहीं, यज्ञों में बड़े पैमाने पर पशुओं की बलि ने कृषि व्यवस्था को प्रभावित किया, जिसका कुप्रभाव अर्थव्यवस्था पर भी पड़ा। ऐसी स्थिति में जनसाधारण में उस समय प्रचलित याज्ञिक कर्मकाण्डों एवं पूजापाठों के विरुद्ध प्रतिक्रिया होना स्वाभाविक ही था। इस प्रतिक्रिया का पूर्ण परिपाक् हमें उपनिषदों में देखने को मिलता है। उपनिषद् यज्ञों तथा उनमें की जाने वाली पशुबलि की कड़ी आलोचना करते हैं। मुण्डक उपनिषद् में यज्ञों को टूटी नौकाओं के समान तथा उनके कर्मकाण्डों को अल्पफल वाला कहा गया है। बताया गया है कि जो मूर्ख इनकी प्रशंसा करता है वह बारम्बार जरामृत्यु को प्राप्त होता है। इससे स्पष्ट है कि तत्कालीन समाज याज्ञिक कर्मकाण्डों के विपरीत किसी ऐसे धर्म की खोज में था, जो कि आडम्बर विहीन विधि से आत्मिक शान्ति दिला सके। ऐसी स्थिति में बुद्ध, जनमानस के लिये उपयुक्त एक सरल धर्म की खोज में अग्रसर हुए। फलतः बौद्ध धर्म के रूप में एक नवीन धर्म का अभ्युदय हुआ।

बौद्ध धर्म के अभ्युदय के लिये तत्कालीन सामाजिककारण भी कम उत्तरदायी न थे। वर्णव्यवस्था की जटिलता एवं तनावपूर्ण सामाजिक जीवन ने बौद्ध धर्म के उदय में महत्वपूर्ण भूमिका निभायी। वैदिकयुगीन वर्ण—व्यवस्था कालान्तर में जटिल से जटिलतम होते हुए रूढ़िवादिता में परिवर्तित हो गयी थी। बौद्ध धर्म के अभ्युदय के पूर्व तत्कालीन सामाजिक व्यवस्था कर्म की अपेक्षा जन्म पर आधारित जाति में

विश्वास करने लगी थी। जाति-भेद सम्बन्धी मनुष्य की धारणायें रुढ़ होती गयीं और पेशे वंशानुगत हो गये।

ऋग्वैदिकयुगीन समाज प्रारम्भ में वर्ग-विभेद से रहित था। सभी व्यक्ति 'जन' के सदस्य समझे जाते थे तथा सबकी समान सामाजिक प्रतिष्ठा थी। प्रारम्भ में हम तीन वर्णों का उल्लेख पाते हैं – ब्रह्म, क्षत्र तथा विश। जब आर्य भारत में आये तब उन्हें अनार्यों से संघर्ष करना पड़ा। इसके लिये कुछ ऐसे योद्धाओं की आवश्यकता हुई जो असुरों से उनकी रक्षा कर सकें। इस कार्य के लिये उन्होंने अपने में से कुछ उत्साही वीरों को चुना और उन्हें 'क्षत्र' नाम दिया। क्षत्र का अर्थ है 'क्षत्' अर्थात् हानि से रक्षा करने वाला। ऋग्वेद में 'क्षत्र' शब्द का प्रयोग सैन्य बल तथा राज्य क्षेत्र एवं 'क्षत्रिय' का प्रयोग उसमें निवास करने वालों के लिये हुआ है। इसी प्रकार यज्ञों को कराने के लिये जो व्यक्ति चुने गये उन्हें 'ब्रह्म' कहा गया। यह विद्वान् तथा गणमान्य लोगों का वर्ग था। कहीं-कहीं ब्राह्मण शब्द का प्रयोग 'पुरोहित' के लिये भी मिलता है। शेष जनता को 'विश' नाम से सम्बोधित किया जाता था। ऋग्वेद में 'विश' शब्द का उल्लेख विविध अर्थों, जैसे जनजातीय समुदाय, सन्निवेश, मनुष्यों के समूह, सामान्य प्रजा आदि में किया गया है। कालान्तर में यह वर्ग उत्पादन की प्रक्रिया से सम्बद्ध हो गया। उल्लेखनीय है कि आरम्भ में इन तीनों वर्णों में कोई कठोरता नहीं थी। एक ही परिवार के लोग ब्रह्म, क्षत्र या विश हो सकते थे। ऐसा प्रतीत होता है कि आर्यों ने अनार्यों को परास्त कर अपने सामाजिक संगठन में उन्हें स्थान दिया और इस प्रकार कालान्तर में एक चौथा वर्ण 'शूद्र' नाम से समाज में उत्पन्न हो गया। ऋग्वेद के दसवें मण्डल के पुरुषसूक्त में हमें सर्वप्रथम 'शूद्र' शब्द का उल्लेख मिलता है। इसमें चारों वर्णों की उत्पत्ति एक 'विराट पुरुष' के विभिन्न अंगों से बतायी गयी है—

ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद् बाहु राजन्यः कृतः।

उरु तदस्य यद्वैश्यः पदभ्याम् शूद्रो अजायत ॥

अर्थात् विराट पुरुष के मुख से ब्राह्मण की, बाहु से क्षत्रिय की, उरु से वैश्य की और पैर से शूद्रों की उत्पत्ति हुई। चातुर्यवर्णव्यवस्था का भारतीय इतिहास में यह

प्राचीनतम उल्लेख है। परन्तु इस समय भी वर्णों में जटिलता नहीं आयी थी और वर्ण जन्मजात न होकर व्यवसाय पर आधारित होते थे। व्यवसाय परिवर्तन संभव था। ऋग्वेद में एक स्थान पर एक ऋषि ने कहा है –

कारुरहं ततोभिषगुपल प्रक्षिणी नना ।

नानाधियो वसूयवोऽनु गा इव तस्थमेन्द्रायेन्द्रो परिस्त्रव ॥

अर्थात् मैं कवि हूँ। मेरा पिता वैद्य है तथा मेरी माता अन्न पीसने वाली है। साधन भिन्न हैं परन्तु सभी धन की कामना करते हैं। इससे स्पष्ट है कि व्यवसाय आनुवांशिक नहीं थे। वर्ण का आधार जन्म न होकर कर्म था। व्यक्ति विशेष को यह अधिकार प्राप्त था कि वह अपने कर्मानुसार वर्ण का सदस्य बन सके। तीनों उच्च वर्णों के मध्य स्पष्ट विभाजन नहीं था। यदि था भी तो वह आर्य तथा दास वर्ण के बीच था। परन्तु कालान्तर में वर्णों में क्रमशः कठोरता आने लगी तथा उत्तरवैदिक काल के अन्त तक आते आते वे जाति के रूप परिणत हो गये। व्यवसाय परिवर्तन अब कठिन हो गया था। धार्मिक और सामाजिक क्षेत्र में अब चारों वर्णों – ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र के कर्तव्यों, अधिकारों और स्थिति में विभेद किया जाने लगा। कालान्तर में मनुष्य की जातिभेद सम्बन्धी धारणायें उत्तरोत्तर रुढ़ होती चली गयी। शतपथ ब्राह्मण में हमें चारों वर्णों की अंत्येष्टि के लिये चार प्रकार के टीलों का उल्लेख प्राप्त होता है। प्रत्येक वर्ण के उपयोग के लिये अलग-अलग रंग के यज्ञोपवीत का विधान मिलता है। सम्बोधन के ढंग भी अलग-अलग मिलते हैं। ब्राह्मण को 'एहि' (आइये), क्षत्रिय को 'आगहि' (आओ), वैश्य को 'आद्रव' (जल्द आओ) तथा शूद्र को 'आधाव' (दौड़कर आओ) कहकर सम्बोधित किये जाने का वर्णन मिलता है। इन सबसे स्पष्ट है कि वर्ण-भेद उत्तरोत्तर बढ़ते जा रहे थे। कालान्तर में मनुष्य के सामाजिक जीवन में जातिभेद सम्बन्धी धारणाओं की जड़े इतनी गहराई तक प्रविष्ट हो गयी थीं कि देवगण भी चातुर्यवर्ण में विभाजित किये जाने लगे।

ऐतरेय ब्राह्मण में हमें चारों वर्णों के लिये अलग-अलग कर्तव्यों का वर्णन मिलता है। 'ब्राह्मणों' को दान लेने वाला (अदायी), सोमापायी, कार्यशील तथा

इच्छानुसार भ्रमण करने वाला कहा गया है। कुछ उल्लेखों में ब्राह्मण को राजा से भी बड़ा बताया गया है। शतपथ ब्राह्मण में कहा गया है कि राजा अपनी शक्ति ब्राह्मण से ही प्राप्त करता है। ऐतरेय ब्राह्मण में 'क्षत्रिय' को राजा तथा भूमि का स्वामी कहा गया है। वे देश की रक्षा के लिये युद्ध करते तथा प्रजा से कर लेते थे। तीसरा वर्ण 'वैश्य' को कर देने वाला (अन्यस्यवलिकृत) कहा गया है। ये कृषि, व्यापार और उद्योग—धन्धो में लगे थे। इन्हे 'आदय' (भक्षणीय) कहा गया है जिससे तात्पर्य है कि वैश्य सामाजिक पोषण के आधार थे। चौथा वर्ण 'शूद्र' को उपर्युक्त तीनों वर्णों का सेवक (अन्यस्य प्रेण्यः) कहा गया है। इस प्रकार समाज में चारों वर्णों के अलग—अलग कर्तव्य निर्धारित थे। अपने साधनामय जीवन तथा ज्ञान के कारण ब्राह्मणों की सर्वोपरि प्रभुता स्थापित हुई। धार्मिक यज्ञ सम्पन्न कराने का कार्य ब्राह्मण ही करते थे। ऐतरेय ब्राह्मण से यह विदित होता है कि सभी धार्मिक एवं याज्ञिक कृत्य केवल ब्राह्मण ही सम्पन्न करा सकता था। उसके सहयोग के बिना याज्ञिक कार्यों का सम्पादन असम्भव था। चूँकि तत्कालीन समाज में जनसाधारण वैदिक यज्ञों में आस्था रखता था, अतः यज्ञों को कराने के लिये समाज में पुरोहित वर्ग समादृत हुआ और पुरोहित के पद पर ब्राह्मण की नियुक्ति की जाने लगी। याज्ञक के रूप में उन्हें गायें, वस्त्राभूषण और अनेकानेक बहुमूल्य सामग्री प्राप्त होती थी। इससे ब्राह्मणों की स्थिति सुदृढ़ होती गई। स्थिति सुदृढ़ होने से समाज में ब्राह्मणों का वर्चस्व स्थापित हुआ। इस श्रेष्ठता का दुष्परिणाम यह हुआ कि ब्राह्मण एवं क्षत्रिय के मध्य सामाजिक प्रतिष्ठा हेतु प्रतिस्पर्द्धा की भावना बलवती हो उठी। रिज डेविड्स के अनुसार बुद्ध के पूर्व ही आर्यों में वर्ण संघर्ष बढ़ गया था। उन्होंने क्षत्रियों को इस युग के एक ब्राह्मण विरोधी सामाजिक धार्मिक आन्दोलन का नेता माना है।

समाज में वर्णक्रम के अनुसार वैश्यों का स्थान तीसरा था। उनका कार्य कृषि, पशुपालन एवं वाणिज्य था। ब्राह्मण एवं क्षत्रियों की तरह वैश्य भी अपनी सामाजिक मान—मर्यादा के प्रति सचेत हो गये थे। वैदिक युग में कृषि कार्य में नवीन तकनीकि का प्रयोग न होने से यद्यपि उनकी स्थिति दयनीय थी, ब्राह्मण ग्रन्थों में सूद पर ऋण लेनाभी निन्दनीय बताया गया है, जिससे वाणिज्य एवं

व्यापार की भी अवनति हुई। तथापि छठी शताब्दी ई०पू० में कृषि कार्य में नवीन तकनीकि के प्रयोग से वैश्यों की स्थिति में पर्याप्त सुधार हुआ। इस युग में लोहे के प्रयोग के बढ़ने से पैदावार में अभूतपूर्व वृद्धि हुई जिससे वैश्यों ने समाज में अपना एक विशिष्ट स्थान बना लिया। आर्थिक स्थिति में उत्तरोत्तर वृद्धि होने के परिणामस्वरूप सम्भवतः वे भी किसी ऐसे धर्म की खोज में अग्रसर हुए होंगे जो उन्हें अधिकाधिक सामाजिक प्रतिष्ठा दिला सकने में समर्थ हो। इस दृष्टि से बौद्ध धर्म पर्याप्त रूप से सहायक सिद्ध हुआ। महावग्ग में वाराणसी के श्रेष्ठिपुत्र यश को कुलपुत्र कहा गया है। यह वैश्यों की सामाजिक प्रतिष्ठा का परिचायक है। इससे स्पष्ट होता है कि बौद्ध धर्म ने वैश्यों की सामाजिक प्रतिष्ठा में काफी अभिवृद्धि की। यही कारण है कि बौद्धधर्म के उदय एवं विकास में वैश्यों ने पर्याप्त आर्थिक सहयोग दिया था। मगध के एक श्रेष्ठि द्वारा भिक्षुसंघ को अस्सी करोड़ का आकर्षक दान दिये जाने का उल्लेख प्राप्त होता है। इसी तरह श्रावस्ती नगर के प्रमुख श्रेष्ठि अनाथपिण्डक ने जेतवन की सम्पूर्ण भूमि को स्वर्णमुद्राओं से आच्छादित कर क्रय किया था और उसे भिक्षु संघ को दान में दिया था। इस प्रकार वैश्यों ने बौद्ध धर्म के उदय एवं विकास में पर्याप्त सहयोग दिया।

धर्मसूत्रों एवं ब्राह्मण ग्रन्थों में निम्न जातियों की सामाजिक व्यवस्था का वर्णन प्राप्त होता है इन्हें शूद्र वर्ण के अन्तर्गत माना जाता था। शूद्र मुख्यतः सेवक और मजदूर के रूप में कार्य करते थे। ऐसा प्रतीत होता है कि अधिकांश शूद्रों को कृषि से सम्बद्ध कार्यों में नियुक्त किया जाता था। आपस्तम्ब धर्मसूत्र से विदित होता है कि ऐसे शूद्रों के पास इतनी भू-सम्पत्ति नहीं रहती थी कि वे राजा को उसका कर दें। इन्हें भटक और कर्मकार कहा जाता था। कुला मिलाकर समाज में शूद्रों की स्थिति काफी दयनीय थी। उनका मुख्य कर्तव्य उपर्युक्त तीनो वर्णों की सेवा करना था। शतपथ ब्राह्मण में शूद्रों की हीन स्थिति का उल्लेख है। इसमें बताया गया है कि शूद्र अभिषिक्त पुरुष द्वारा सम्बोधन-योग्य नहीं होता था। इससे इस युग में शूद्रों की दयनीय दशा प्रकट होती है।

उपर्युक्त तथ्यों से स्पष्ट है कि छठी शताब्दी ईसा पूर्व तक आते-आते भारतीय समाज स्पष्टतः दो वर्गों सुविधाभोगी और सुविधाविहीन में विभक्त हो गया

था। ब्राह्मण एवं क्षत्रिय सुविधाभोगी और विशेषाधिकार प्राप्त वर्ग बन गये। एक के पास राजसत्ता थी, तो दूसरे के पास धार्मिक सत्ता। आपसी तालमेल द्वारा ये अपने विशेषाधिकारों की सुरक्षा करते थे, परन्तु समाज के अन्य दो वर्गों – वैश्य और शूद्र – को निम्न दर्जा प्राप्त था। यद्यपि वैश्यों की आर्थिक स्थिति काफी अच्छी थी, कृषि, व्यापार और उद्योग – धन्धों में संलग्न रहने से उनके पास पर्याप्त धन था, राज्य के प्रमुख करदाता भी वही थे, तथापि उनका सामाजिक दर्जा प्रथम दो वर्गों से नीचे था। सबसे बुरी स्थिति तो शूद्रों की थी, जिनको तीनों वर्णों की सेवा करनी पड़ती थी और उनका कोपभाजन बनना पड़ता था। इतना ही नहीं विभिन्न वर्णों में आपसी प्रतिस्पर्धा की भावना भी विद्यमान थी। ब्राह्मण और क्षत्रियों के आपसी सम्बन्ध भी बहुत अच्छे नहीं थे। क्षत्रिय इस बात से असंतुष्ट थे कि शासन का प्रधान होने के बावजूद उनका दर्जा ब्राह्मणों से नीचा था। इतना ही नहीं, ब्राह्मण समुदाय भी क्षत्रियों के विशेषाधिकारों पर प्रहार कर, अपने लिये उन सुविधाओं को प्राप्त करने की कोशिश कर रहा था। ऐसी स्थिति में ब्राह्मणों एवं क्षत्रियों में वैमनस्य होना स्वाभाविक ही था। क्षत्रिय ऐसी व्यवस्था चाहते थे, जिससे समाज में उनका दर्जा ब्राह्मणों से ऊपर हो सके और वे ब्राह्मणों पर नियंत्रण स्थापित कर सके। वस्तुतः ऐसी व्यवस्था तभी संभव थी, जब समाज पर से पुरानी धार्मिक मान्यताओं का प्रभाव समाप्त किया जा सके। इसलिए क्षत्रियों ने नवीन धार्मिक सम्प्रदाय को समर्थन दिया ताकि समाज में ब्राह्मणों के स्थान पर अपनी सर्वोच्चता स्थापित कर सके। वैश्य और शूद्र भी इस व्यवस्था में परिवर्तन चाहते थे। अतः इन सभी वर्गों ने धर्मसुधार आन्दोलन में महत्वपूर्ण भूमिका निभायी तथा बौद्ध धर्म के अभ्युदय और विकास में अपना महती योगदान दिया।

बौद्ध धर्म के अभ्युदय में तत्कालीन राजनीतिक परिस्थितियों का भी महत्वपूर्ण योगदान रहा है। वस्तुतः बौद्ध धर्म के उदय में तत्कालीन राजा और राजनीति ने महत्वपूर्ण भूमिका अदा की, जिसका उल्लेख गोविन्द चन्द्र पाण्डेय ने बौद्ध धर्म के उद्भव में किया है। ऋग्वैदिक काल में आर्यों का राजनीतिक आधार ‘जन’ था। उत्तरवैदिक काल में ‘जनपद’ का विकास हुआ तथा बौद्ध काल तक आते-आते छोटे-छोटे ‘जनपदों’ को मिलाकर ‘महाजनपदों’ का निर्माण हुआ। बौद्ध और जैन

साहित्य में हमें षोडश महाजनपदों का उल्लेख प्राप्त होता है। अंगुत्तर निकाय में तत्कालीन षोडश महाजनपदों के नाम इस प्रकार मिलते हैं— काशी, कौशल, अंग मगध, वज्जि, मल्ल, चेदि, वत्स, कुरु, पांचाल, मत्स्य, शूरसेन, अस्सक, अवन्ति, गन्धार एवं कम्बोज। जैन ग्रन्थ ‘भगवती सूत्र’ में भी इन 16 महाजनपदों की सूची प्राप्त होती है, परन्तु वहाँ नाम कुछ भिन्न प्रकार से दिये गये है, अंग, बंग, मगह, मलय, मालव, अच्छ, वच्छ, कोच्छ, पाढ़य, लाढ़, वज्जि, मोलि, काशी, कोशल, अवध एवं सम्मुत्तर। दोनों सूचियों में अंग, मगध, काशी, कोशल, वत्स एवं वज्जि का समान रूप से उल्लेख हुआ है। चुल्लनिदेश में षोडश महाजनपदों की सूची में कलिंग को जोड़ दिया गया है तथा गन्धार के स्थान पर योन का उल्लेख है। महावस्तु में गन्धार तथा कम्बोज के स्थान पर क्रमशः शिवि तथा दशार्ण के नाम मिलते हैं। इसके अतिरिक्त गोविन्द चन्द्र पाण्डेय ने जैन ग्रन्थ विथाहपन्ति का उदाहरण भी प्रस्तुत किया है, जिसमें भिन्न सूची मिलती है, इसमें बंग, पाठ और लाठ के नाम उल्लिखित है। इनके अनुसार उस समय जनपद परस्पर संघर्ष फिल थे तथा उनकी स्थिति परिवर्तन फिल थी। काशी उपनिषद् युग में जहाँ एक शक्तिशाली एवं स्वतंत्र राज्य के रूप में जानी जाती थी वही ई०पू० छठी शताब्दी में वह कोसल साम्राज्य का अंग बन गयी। इसी तरह हर्यकवंशी बिम्बिसार के समय में मगध ने अंग जनपद को बलपूर्वक आत्मसात् कर लिया। शाक्यगण कोसल की अधीनता स्वीकार करता था फिर भी विड्डभ ने उस पर आक्रमण किया। अजातशत्रु ने लिच्छवि गणराज्यों से युद्ध करके उसे अपने अधीन किया।

इस प्रकार बौद्ध धर्म के उदय के समय आर्यावर्त अनेक छोटे-छोटे राज्यों में विभक्त था। ये राज्य यद्यपि उत्तरवैदिक कालीन राज्यों की अपेक्षा अधिक विस्तृत तथा शक्तिशाली थे तथापि इनमें से कोई भी, देश को राजनैतिक एकता के सूत्र में संगठित करने में समर्थ नहीं था। दूसरे शब्दों में कहें तो छठीं शताब्दी ईसा पूर्व के प्रारम्भ में उत्तर भारत में सार्वभौम सत्ता का पूर्णतया अभाव था। जनार्दन भट्ट के अनुसार, लोगों में राजनीतिक स्वतंत्रता का भाव प्रबलता से फैला हुआ था, कोई उनकी स्वतंत्रता में बाधा डालने वाला नहीं था। प्रत्येक गाँव एवं प्रत्येक नगर स्वयं अपना प्रबंध करते थे। गाँव एवं नगर एक प्रकार से छोटे-मोटे प्रजातंत्रात्मक राज्य

के रूप में स्थित थे। अधिकांशतः शासन की बागडोर क्षत्रियों के हाथ में थी। ये वर्ग समाज में प्रथम स्थान पाने के लिये ब्राह्मण वर्ग से प्रतिस्पर्धा कर रहा था। ऐसी स्थिति में इन्होंने ब्राह्मण धर्म की अपेक्षा एक नवीन धर्म को प्रश्रय देना अधिक श्रेयस्कर समझा। फलतः बौद्ध धर्म के अभ्युदय, विकास एवं प्रसार में ये सहायक सिद्ध हुए। इस प्रकार ब्राह्मणों की सर्वोच्चता के विरुद्ध क्षत्रियों का खड़ा होना, बौद्ध धर्म के उद्भव का अन्यतम कारण सिद्ध हुआ।

तत्कालीन भारत में एक नवीन कृषि मूलक अर्थव्यवस्था का आविर्भाव होना, बौद्ध धर्म के अभ्युदय का प्रमुख कारण था। आर्थिक दृष्टि से गंगाधाटी के लिये यह काल नगरीय क्रांति का काल था। इस युग में कृषि में लौह तकनीक के प्रयोग से उत्पादन में वृद्धि हुई। उत्पादन—अधिशेष ने समूची अर्थव्यवस्था को प्रभावित किया। नगरों का तेजी से विकास हुआ तथा व्यापार—वाणिज्य की काफी प्रगति हुई। इस युग में पहले की अपेक्षा कृषि के विकास का संकेत देने वाले नवीन अनाजों यथा माप (उड़द), श्यामक (सांवा, गन्ना, तिल) की खेती के बहुशः उल्लेख मिलते हैं। राम शरण शर्मा के अनुसार उत्पादन अतिरेक से यह स्पष्ट है कि अब अर्थव्यवस्था केवल अपने भरण पोषण के स्वर की न होकर अपेक्षाकृत बढ़े हुए अतिरिक्त उत्पादन से समाज के गैर उत्पादक वर्गों (पुरोहितों, राजन्यों तथा सेवकों) का भरण—पोषण और अधिक मात्रा में करने में सक्षम हो सकी होगी जो कि पूर्ववर्ती युग में इतनी अधिक मात्रा में सम्भव नहीं रहा होगा। उत्पादन के अतिरेक से विभिन्न शिल्प तथा उद्योगों में उन्नति हुई। इसके साथ ही साथ मुद्रा का विकास, नगरों का विकास तथा व्यावसायिक संघों एवं श्रेणियों का विकास भी हुआ। इस युग में लोहे के प्रचुर प्रयोग से ऐसे औजारों का बनना भी संभव हुआ, जिनकी सहायता से जंगली भूमि को आसानीसे कृषि योग्य बनाने में मदद मिली। परिणामस्वरूप कृषि क्षेत्र में वृद्धि हुई तथा उत्पादन काफी बढ़ गया। उत्पादन वृद्धि एवं सिक्कों के प्रचलन से व्यापार—वाणिज्य में तेजी आयी, जिससे समाज में व्यापारी वर्ग काफी सबल हो गया। अपनी सम्पत्ति के बल पर वह भी अब सामाजिक श्रेष्ठता का दावा करने लगा। दूसरी तरफ राजनैतिक शक्ति के विस्तार से क्षत्रिय वर्ग भी अपने को ब्राह्मण वर्ण से श्रेष्ठ समझने लगा था। इसका उल्लेख शतपथ ब्राह्मण में प्राप्त होता

है। इस प्रकार राजनैतिक शक्ति एवं सम्पत्ति ने मिलकर समाज में पुरानी मान्यताओं के रथान पर नयी मान्यताओं की प्रतिष्ठा की। व्यापार, सम्पत्ति, सूदखोरी आदि अब समृद्धि के वास्तविक साधन मान लिये गये। चूँकि ब्राह्मण ग्रन्थों में इनकी निन्दा की गयी है, अतः इन्हें समर्थन प्रदान करने के लिये नवीन मतों की आवश्यकता प्रतीत हुई। इन बदलती हुई नवीन आर्थिक परिस्थितियों ने बौद्धधर्म की नयी विचारधारा के उद्भव एवं विकास में सहायता प्रदान किया।

इस प्रकार स्पष्ट कि बौद्ध धर्म की लोकप्रियता का एक प्रमुख पहलू आर्थिक भी था। आर्थिक दृष्टि से कुछ क्षेत्रों में ब्राह्मण धर्म अब अनुपयोगी हो रहा था। उदाहरणार्थ –पशुबलि का ब्राह्मण धर्म में विशेष महत्व था और पशु कृषि प्रधान आर्थिक व्यवस्था तथा सम्पत्ति की एक आवश्यक निधि थे। व्यापार के प्रति भी ब्राह्मण धर्म का दृष्टिकोण कुछ विशेष अच्छा नहीं था। यद्यपि आपत्ति काल में ब्राह्मणों को व्यापार करने की अनुमति प्रदान की गयी थी परन्तु उन्हें कुछ विशेष वस्तुयें बेचने का निषेध था। जैसे— अन्न, पेय पदार्थ, सुगन्धित द्रव्य आदि। इसी तरह समुद्र मात्रा एवं सूदखोरों के प्रति ब्राह्मण धर्म का दृष्टिकोण अच्छा नहीं था। धर्मसूत्रों में सूदखोरी को घृणित माना गया है। इसके विपरीत बौद्ध धर्म में इसे घृणा की दृष्टि से नहीं देखा जाता था। ऐसे सेटिठ्यों से गौतम बुद्ध के अच्छे सम्बन्ध थे, जो सूदखोर थे। चूँकि तत्कालीन समय में ब्राह्मण धर्म की मान्यताओं का सबसे अधिक बुरा प्रभाव वैश्यों पर पड़ रहा था, जिनके लिये नगरों में निवास करना, व्यवसाय और सूद पर पैसा लेना—देना आवश्यक था। अतः नवोदित वैश्य वर्ग अपने हितों की सुरक्षा के लिये वैदिक धर्म एवं पुरोहितों का विरोधी बन बैठा। इस वर्ग ने बौद्ध धर्म के विकास में महत्वपूर्ण योगदान दिया।

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर हम निष्कर्षतः कह सकते हैं कि छठी शताब्दी ईसा पूर्व में बौद्ध धर्म के उदय में सामाजिक, धार्मिक, राजनीतिक और आर्थिक कारण विद्यमान थे। तत्कालीन समाज में याज्ञिक कर्मकाण्डों की जटिलता एवं विकृतता के विरुद्ध असन्तोष की भावना घर कर रही थी। जनसामान्य उस समय की जातिगत रूढिवादिता एवं याज्ञिक कर्मकाण्डों से पूर्णतया ऊब चुका था और वह किसी ऐसे धर्म की खोज में था, जो उसे आत्मा—परमात्मा, यज्ञ—कर्म एवं प्रचलित

कठोर रीतिरिवाजों से मुक्ति दिला सके। ऐसी परिस्थिति में छठी शताब्दी ईसा पूर्व में उत्तर भारत में महात्मा बुद्ध का आविर्भाव हुआ। इन्होंने पूर्व प्रचलित धर्मों की अच्छाइयों को ग्रहण करके तथा उनमें व्याप्त रुद्धियों एवं बुराइयों को दूर कर एक नवीन विचारधारा को जन्म दिया जो कि 'बौद्ध धर्म' के नाम से अभिहित है।